THE TIMES OF INDIA

Date: 18-08-17

Chasing shadows: "New India" is not compatible with the state playing moral police

Prime Minister Narendra Modi has called for a "new India", a vision that would be impoverished if it is confined merely to building shiny roads, airports and power stations (Saudi Arabia is already there, but that's not where new India wants to get to). It should incorporate changed mindsets as well, where citizens are empowered rather than seen as mere wards of the state. That, in turn, means that citizens are allowed to make their own choices as long as these do not impinge on the freedom of others, instead of the state and authorities appointed by it making all their decisions for them. Without such empowerment, new India is bound to fail.

Unfortunately, there are just too many instances of this principle being denied in practice. Contrary to the recommendations of a parliamentary panel, the government may not remove transgenders from the ambit of section 377 of IPC, when this section itself ought to be dropped as no government should dictate sexual choices made by consenting adults. This means, in effect, that transgenders have no sexual rights and their very existence is criminalised.

Likewise the nebulous meme of 'love jihad', popularised by the Sangh Parivar, is often invoked by conservative parents when they want to stop their children from entering into interfaith marriages. The National Investigation Agency (NIA) has taken up an alleged instance of 'love jihad' and discovered a 'pattern' in such cases, which in turn has persuaded an initially reluctant Supreme Court to order a probe. It is disturbing that if young men or women marry who they want they are subjected to such intervention and interdiction by the state, including by NIA which immediately raises the prospect of a terror link.

The apex court has suggested a connection between the alleged 'love jihad' case and the Blue Whale Challenge, indeed an apt analogy. There is grave reason to doubt the phenomenon of a rash of teen suicides allegedly linked to an online game (see accompanying oped), and stopping teen suicides by telling Facebook and Google not to provide a platform for Blue Whale is a bit like stopping terror by interdicting interfaith marriages (doing so, in fact, increases the probability of terror and communal violence by ghettoizing and putting up walls between communities). To the extent that NIA goes haring off after red herrings, it will blind itself to the next terror plot when it does unfold.

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 18-08-17

महिला-पुरुष समानता में ही निहित कारोबारी सफलता

श्यामल मजूमदार

गूगल के 28 वर्षीय कर्मचारी जेम्स डामोर को कार्यस्थल पर महिला-पुरुष समानता के संदर्भ में संस्थान की 'महिलाओं के अनुकूल' नीति की मूर्खतापूर्ण आलोचना करने के कारण नौकरी से निकाल दिया गया। उनको पता होना चाहिए था कि उनके साथ ऐसा ही होगा। डामोर ने दलील दी थी कि प्रौद्योगिकी उद्योग में महिलाओं के कम प्रतिनिधित्व की जैविक वजहें हो सकती हैं। उनके इस बयान की गूगल के भीतर और बाहर जमकर आलोचना हुई और लोगों ने नाराजगी जाहिर की।

ताजा विवाद ऐसे वक्त पर आया है जबकि सिलिकन वैली में उबर जैसी कंपनियां यौन शोषण के आरोपों से जूझ रही हैं और महिलाओं और पुरुष कर्मचारियों के बीच असमानता का मुद्दा जोरों पर है। हकीकत यह है कि डामोर की टिप्पणी लिंग को लेकर निहित गहरे तक घर कर चुकी धारणा को ही सामने लाती है। यह धारणा इस आधुनिक युग में भी कार्यस्थलों में बरकरार है। प्रौद्योगिकी उद्योग जो आव्रजन और विविधता जैसे मुद्दों का समर्थन करता आया है वहां मुख्य तौर पर पुरुष ही काम करते हैं। भारतीय कंपनियों के रिकॉर्ड पर नजर डालते हैं। हालांकि हम शुरुआती दौर में होने वाले भीषण महिला-पुरुष भेदभाव से दूर आ चुके हैं लेकिन प्रोइव्स द्वारा किए गए जेंडर बैलेंस इंडिया सर्वे से पता चलता है कि देश के कॉर्पोरेट जगत में महिलाओं की भागीदारी 20-22 प्रतिशत है। वरिष्ठïं और शीर्ष स्तर पर यह भागीदारी घटकर 12-13 फीसदी रह जाती है। महज नेक इरादे जताने से कुछ नहीं होता है। साठ फीसदी से अधिक कंपनियों ने कार्यस्थल पर महिला-पुरुष समानता को लेकर इरादे जाहिर किए हैं और 83 फीसदी ने संगठनात्मक स्तर पर इसका आकलन किया है। समस्या कहीं और है।

विश्व आर्थिक मंच के लैंगिक भेद सूचकांक में महिला और पुरुष में भेद मिटाने संबंधी वैश्विक आकलन कार्यक्रम की सूची में भारत को 136 देशों की सूची में 101वां स्थान दिया गया। इसमें दो राय नहीं कि महिलाओं को अभी भी दोहरे मानकों का सामना करना पड़ता है और कार्यस्थलों पर वरिष्ठïं पदों पर उनके लिए गुंजाइश बहुत सीमित है। कहने का तात्पर्य यह है कि महिलाओं को लेकर कंपनियों में अभी भी तमाम पूर्वग्रह हैं। इस दलील में भी काफी सच्चाई है कि देश में महिला कर्मचारियों को अभी भी समान काम के वास्ते समान वेतन जैसी समानता हासिल करने के लिए बहुत लंबी लड़ाई लडऩी पड़ रही है। जरा 2,400 पुरुषों और महिलाओं पर किए गए कार्यस्थलीन सर्वेक्षण पर गौर कीजिए जहां 80 फीसदी प्रतिभागियों ने कहा कि उनके काम करने की जगह पर यौन शोषण होता है। जबकि 53 फीसदी लोगों ने कहा कि काम के दौरान महिलाओं और पुरुषों को समान अवसर नहीं हैं। प्रबंधन अक्सर पीड़ितों पर यह दबाव बनाता है कि वे अपनी शिकायत वापस ले लें।

कुछ प्रबंधन सलाहकारों ने शीर्ष पर महिलाओं के प्रतिनिधित्व को बढ़ाने को लेकर कुछ सुझाव दिए हैं। इसमें बोर्ड रूम में महिलाओं के लिए अनिवार्य कोटा तय किया जाए। नॉर्वे, फ्रांस, स्वीडन और स्पेन आदि देशों में यह काम काफी हद तक सफलतापूर्वक किया जाता रहा है। परंतु किसी कंपनी के सीईओ से पूछिए, यहां तक कि महिला सीईओ से भी पूछिए तो आपको जवाब एक ही मिलेगा। वे महिलाओं को आलोचना के जोखिम तले खुला छोड़ देंगे। कुल मिलाकर संदेश यह होगा कि महिलाओं को वहां नहीं होना चाहिए और वे केवल आंकड़े बढ़ाने के लिए वहां होती हैं। यह भी एक वजह है जिसके चलते बोर्ड रूम में महिलाओं के आरक्षण की मांग को खारिज किया जाता है। कॉर्पोरेट जगत में कई लोग कहते हैं कि हर चीज को महिला-पुरुष समानता की कमी पर थोपना फैशन हो गया है। उनके मुताबिक सच्चाई यह है कि कारोबारी जगत के दरवाजे तो खुले हैं लेकिन अलहदा और अधिक संतुलित जीवन की तलाश में महिलाएं इसमें शामिल होने की इच्छुक ही नहीं दिखतीं। वहीं विभिन्न सीईओ कहते हैं कि कॉर्पोरेट बोर्ड अपने मुनाफे को लेकर ही इतने चिंतित हैं कि वे इस बात पर ध्यान देने की स्थिति में नहीं हैं कि बोर्ड सदस्य के रूप में किसे चुना जाए किसे नहीं। उनकी दलील में दम है। इस बात से कोई इनकार नहीं है कि कनिष्ठïं से वरिष्ठïं तक के सफर में भारत में महिलाओं का प्रतिनिधित्व बहुत तेजी से कम होता है। इसमें

महिला-पुरुष भेदभाव की बहुत अधिक भूमिका भी नहीं है। उदाहरण के लिए कई महिलाएं अपनी उच्च शिक्षा या करियर को विवाह या संतानोत्पत्ति के कारण विराम दे देती हैं। यही वजह है कि उम्र के दूसरे और तीसरे पड़ाव के बीच कई महिलाएं अपना करियर त्याग देती हैं क्योंकि उनको लगता है कि वे दोनों भूमिकाओं से न्याय नहीं कर पा रही हैं। विभिन्न भारतीय कंपनियों का प्रबंधन कहता है कि उनका इस बात पर कोई नियंत्रण नहीं है कि महिला कर्मचारी कब काम छोड़ दें या दोबारा आना चाहें। लचीली काम संबंधी नीतियां या लंबी छुट्टियां उन लोगों की थोड़ी बहुत मदद कर सकती हैं जो अपने करियर को लेकर गंभीर हैं। वजह चाहे जो भी हो लेकिन कार्यस्थलों पर महिला-पुरुष समानता किसी भी कामकाजी जगह की कारोबारी सफलता के लिए भी बहुत अहमियत रखती है। गैलप द्वारा हाल में कराए गए एक अध्ययन से पता चला है कि महिला-पुरुष समानता वाले कारोबारों के वित्तीय नतीजे उन कारोबारों की तुलना में बेहतर रहे जहां एक विशिष्ट वर्ग का दबदबा था।

Date: 18-08-17

हिंद महासागर में विवाद बढऩे के आसार

नितिन पई

भारत और चीन के बीच इन दिनों जो संबंध हैं वे दोनों देशों के बीच स्थायी प्रतिद्वंद्विता की पृष्ठभूमि तैयार कर सकते हैं। इस संबंध में विस्तार से जानकारी दे रहे हैं नितिन पई

भारत और चीन के सैनिकों के बीच डोकलाम में जो सैन्य गतिरोध इन दिनों देखने को मिल रहा है, उसे समझने और उससे निपटने का एक मॉडल हम भारतीयों के दिमाग में पहले से मौजूद हैं। भारत सरकार सन 1950 के दशक से ही हिमालय के कई इलाकों में सीमा विवाद से जूझ रही है। सन 1960 के दशक से सेना भी इसे लेकर जागरूक है और संसद में और सार्वजनिक जीवन में भी इसे लेकर बहस चलती रही है। हो सकता है हम इस बात पर सहमत नहीं हों कि क्या किया जाना है, यह भी हो सकता है कि हमने चीन के इरादों को लेकर गलत अनुमान लगाए हों लेकिन हमारे देश में हिमालयीन क्षेत्र को लेकर राजनेता, सरकारी अधिकारी और नागरिक समाज, तीनों की सोच स्पष्ट है। कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि इस संबंध में क्या किया जाए, इसे लेकर आम सहमति है लेकिन हमें ऐसी स्थिति से निपटने का अनुभव अवश्य है। परंतु हिंद महासागर क्षेत्र के बारे में यही बात नहीं कही जा सकती है। हमें नहीं पता है कि हमारे पूर्वी, दक्षिणी और पश्चिमी समुद्री क्षेत्र में चीन की ताकत से कैसे निपटना है। इसमें दो राय नहीं है कि हमारे सत्ता प्रतिष्ठान का एक धड़ा वर्ष 2000 के मध्य से हिंद महासागर क्षेत्र में चीन की मौजूदगी और उसके विस्तार पर नजर रखे हुए है लेकिन इस संबंध में कोई भी बहस सम्मेलन कक्षों से बाहर नहीं आई है। यहां तक कि सामरिक समुदाय में भी केवल कुछ ही लोगों ने हिंद महासागर क्षेत्र में चीन की उभरती भूमिका की अवधारणा का चित्रण किया था।

आमतौर पर कहा यही जाता है कि चीन हिंद महासागर में भारत को नियंत्रित करने के लिए 'स्ट्रिंग्स ऑफ पल्र्स (मोतियों की माला यह शब्द इस क्षेत्र में चीन की रणनीति के लिए इस्तेमाल होता है)' निर्मित कर रहा है। यह जुमला पेंटागन के लिए ऊर्जा सुरक्षा विषय पर तैयार की गई एक रिपोर्ट से लिया गया है। भारत को सीमित करने की धारणा से अलग इसका तात्पर्य दरअसल चीन के उन राजनीतिक और अन्य संबंधों से भी है जो वह संचार के समुद्री माध्यमों को सुरक्षित करने के लिए इस क्षेत्र में बना रहा है। खाड़ी देशों से ईंधन आयात करने के लिए वह इन्हीं माध्यमों का प्रयोग करता है। हमने इसे अप्रश्नेय ढंग से अपना लिया और अपनी समुद्री नीति को लेकर गंभीरतापूर्वक चर्चा करने लगे, यह हमारे वैचारिक दारिद्रय का एक उदाहरण है। डोकलाम के हालिया तनाव और हिमालय के मोर्चे पर तनाव बढऩे की आशंका के बीच भी हमें हिंद महासागर क्षेत्र की अधिक चिंता करनी चाहिए। कुछ ही वर्ष के भीतर चीन ने इस क्षेत्र में नौसैनिक क्षमता, ठिकाने और रिश्ते सभी कायम किए हैं। वह इस क्षेत्र में बड़ी समुद्री ताकत बनने के करीब है। इस रुतबे को हासिल करने के लिए वह भारत और अमेरिकी नौसेनाओं से भी जूझ जाएगा। इसकी शुरुआत हो चुकी है। भारतीय नौसेना अपने क्षेत्र में चीन की पीपुल्स लिबरेशन आर्मी (पीएलए) के युद्घ पोतों और पनडुब्बियों की तलाश कर रही है। आने वाला दशक कुछ अप्रत्याशित परिस्थितियों का साक्षी बनेगा क्योंकि दोनों नौसेनाओं का आमना-सामना बार-बार होगा।

पश्चिमी प्रशांत सागर के उलट चीन हिंद महासागर क्षेत्र के किसी इलाके पर दावा नहीं कर सकता है। कम से कम अभी तो बिल्कुल नहीं। हालांकि हम नहीं कह सकते कि कब कोई पुराना नक्शा सामने आ जाए और चीन का दावा भी। ऐसे में प्रश्न यह उठता है कि आखिर चीन

हिंद महासागर क्षेत्र में अपना दबदबा क्यों कायम करना चाहता है? उसका लक्ष्य क्या है? पहली बात तो यह कि हिंद महासागर क्षेत्र में स्थायी मौजूदगी के साथ चीन अमेरिका तथा उसके पूर्वी एशियाई सहयोगियों को चुनौती दे सकेगा। अगर पीएलए के नौसैनिक पोतों को पश्चिम एशिया में या पूर्वी अफ्रीका की ओर जाना हो तो अपने देश से ऐसा करते हुए उनको कई ऐसे स्थानों से गुजरना होगा जो अमेरिका और उसके सहयोगी देशों की नौसेनाओं की दृष्टि से संवेदनशील हों। इसके लिए चीन को विदेशी सैन्य ठिकाने की आवश्यकता है। इन अड्डों पर युद्घपोत, विमान और सैनिक तैनात करके चीन क्षेत्र में तेजी काम कर सकेगा और पूर्वी एशियाई प्रतिद्वंद्वी देशों द्वारा बाधित होने से भी बचा रह सकेगा। हाल ही में उद्घाटित जिबूती सैन्य अड्डे और पाकिस्तान में ग्वादर तथा श्रीलंका में हम्बनटोटा बंदरगाहों पर नियंत्रण की मदद से चीन की नौसेना हिंद महासागर क्षेत्र में स्थायी अड्डा निर्मित करने में कामयाब रही है।दूसरा, बिना समुद्री नियंत्रण के चीन वैसी महाशक्ति नहीं बन सकता जैसी कि वह बनना चाहता है। ऐसे में उसे यह क्षमता विकसित करनी होगी कि वह ऐसे किसी भी देश से आगे रहे जो उसकी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं को चुनौती दे सकता है। अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था को सुव्यवस्थित बनाने के इरादे से भी समुद्री शक्ति बहुत महत्त्वपूर्ण है। अब देखना यह होगा कि चीन पुरानी व्यवस्था में कुछ बदलाव चाहता है या अपनी नई व्यवस्था कायम करना चाहता है। तीसरी बात, समुद्री मार्ग चीन की समृद्घि के मार्ग बने रहे हैं और उसकी आर्थिक प्रगति में इनकी बहुत अहम भूमिका है। पूर्वी अफ्रीका और पश्चिम एशिया में राजनीतिक जोखिम लगातार बढ़ रहा है और चीन को अपनी ऊर्जा और व्यापार क्षेत्र की आपूर्ति को इन बढ़ती चुनौतियों से बचाने की आवश्यकता है। कुछ अन्य वजह भी हैं लेकिन ये तीनों वजहें सबसे अधिक अहम हैं। शुरुआती दोनों बिंदुओं पर भारत से टकराव लाजिमी है जबकि तीसरे मोर्चे पर सहयोग हो सकता है। बहरहाल, डोकलाम के बाद भारत और चीन के रिश्तों में समुद्री क्षेत्र में प्रतिद्वंद्विता की पृष्ठभूमि तैयार है। भारत के लिए इसके तमाम निहितार्थ हैं लेकिन एक बात एकदम स्पष्ट है: हमें एक मजबूत और बड़े आकार की नौसेना की आवश्यकता होगी। भारत अगर हिंद महासागर क्षेत्र पर तवज्जो देने की सोचता भी है तो भी हम बिना भारतीय नौसेना को अधिक उन्नत बनाए उस दिशा में कुछ खास नहीं कर पाएंगे

THE HINDU

Date: 17-08-17

On rural India's health systems: the health checklist

Equity in access to doctors, diagnostics and medicines for rural India must be a priority

EDITORIAL

The frail nature of rural India's health systems and the extraordinary patient load on a few referral hospitals have become even more evident from the crisis at the Baba Raghav Das Medical College in Gorakhpur. The institution has come under the spotlight after reports emerged of the death of several children over a short period, although epidemics and a high mortality level are chronic features here. Medical infrastructure in several surrounding districts and even neighbouring States is so weak that a large number of very sick patients are sent to such apex hospitals as a last resort. The dysfunctional aspects of the system are evident from the Comptroller and Auditor General's report on reproductive and child health under the National Rural Health Mission for the year ended March 2016. Even if the audit objections on financial administration were to be ignored, the picture that emerges in several States is one of inability to absorb the funds allocated, shortage of staff at primary health centres (PHCs), community health centres (CHCs) and district hospitals, lack of essential medicines, broken-down equipment and unfilled doctor vacancies. In the case of Uttar Pradesh, the CAG found that about 50% of the PHCs it audited did not have a doctor, while 13 States had significant levels of vacancies. Basic facilities in the form of health sub-centres, PHCs and CHCs met only half the need in Bihar, Jharkhand,

Sikkim, Uttarakhand and West Bengal, putting pressure on a handful of referral institutions such as the Gorakhpur hospital.

Templates for an upgraded rural health system have long been finalised and the Indian Public Health Standards were issued in 2007 and 2012, covering facilities from health sub-centres upwards. The Centre has set ambitious health goals for 2020 and is in the process of deciding the financial outlay for various targets under the National Health Mission, including reduction of the infant mortality rate to 30 per 1,000 live births, from the recent estimate of 40. This will require sustained investment and monitoring, and ensuring that the prescribed standard of access to a health facility with the requisite medical and nursing resources within a 3-km radius is achieved on priority. Such a commitment is vital for scaling up reproductive and child health care to achieve a sharp reduction in India's deplorable infant and maternal mortality levels, besides preventing the spread of infectious diseases across States. It is imperative for the government to recognise the limitations of a market-led mechanism, as the NITI Aayog has pointed out in its action agenda for 2020, in providing for a pure public good such as health. We need to move to a single- payer system with cost controls that make efficient strategic purchase of health care from private and public facilities possible. Bringing equity in access to doctors, diagnostics and medicines for the rural population has to be a priority for the National Health Mission.

Date: 17-08-17

The private route

We need to find ways to make market-based health care more affordable

Prashanth Perumal J

NITI Aayog's recent proposal for the partial privatisation of district-level government hospitals has been criticised for commercialising health care. Under the proposal, private hospitals will be allowed to bid for 30-year leases that give them control over portions of government hospitals dedicated to treating non-communicable diseases. Critics argue that private hospitals focussed on profits will do no good to the poor who can't pay for their services, so the government must step in to provide free health care.Affordability is indeed the major issue preventing poor Indians from getting proper health care. Free health care provided by the government, however, is not the real solution to the problem. Governments often have very little incentive to provide quality health care to many citizens. This is because, in politics, it is the interests of powerful groups that get the most leverage. The poor, for various reasons related to electoral politics, often get left out of the race to influence their governments. For instance, politicians have very little incentive to care about the needs of an individual voter since the impact of a single vote on the election result is essentially minuscule. In the marketplace, on the other hand, private hospitals have huge monetary incentives to proactively cater to the demands of their customers. Each consumer's currency note holds equal weight to a private hospital that seeks profit. This makes market-based health care a fundamentally superior way to deliver health services to the poor.

An issue of 'how to'

The focus then should be on how to make market-based health care more affordable. The standard assumption in this regard is that for-profit health care works against the interests of the poor by making

health care more expensive. So various regulations aimed mostly at reducing the profits of health-care investors and lowering the costs to consumers are imposed on investors. Unfortunately, these regulations, by denying investors the opportunity to make profits by providing health care, actually end up making health care more unaffordable. An investor facing a swathe of regulations capping his returns, for instance, has very little incentive to set up hospitals, produce life-saving drugs, or invest in medical education. This, in fact, works against the interests of the poor by reducing the supply of health care and increasing its price. The only real way to make health care affordable then is to increase its supply sufficiently, which in turn will lead to lower prices. This can only be achieved when health care is deregulated and investors are allowed to seek profits in an honest manner. In fact, this is how any good or service gets cheaper over time. As more investments are made into a sector in search of profits, the increased supply leads to lower prices for consumers and lower returns for investors.Sadly, the thinking that health care is too essential to be left to the market has prevented the health-care market from working like any other. It is no wonder then that goods such as cell phones and cars, which are considered luxuries and thus left to the market, have become affordable to a larger population over time. At the same time, health care has largely remained unaffordable to the vast majority of people.

Live हिन्दुस्तान.com

Date: 17-08-17

बाढ़ के आकार का बढ़ते जाना

दिनेश मिश्र, जल विशेषज्ञ,(ये लेखक के अपने विचार हैं)

बिहार की बाढ़ फिर चर्चा में है। राज्य के 13 जिलों में नदियों ने कहर बरपा रखा है। अब तक 56 लोगों की मौत बाढ़ के कारण हो चुकी है और करीब 70 लाख लोग प्रभावित हुए हैं। **बाढ़ग्रस्त** क्षेत्रों में आवाजाही ठप है। जान-माल का भारी नुकसान हुआ है। इन इलाकों का हवाई सर्वेक्षण हो चुका है। बचाव व राहत **कार्यों** के लिए कई जगहों पर सेना भी उतारी जा चुकी है। साल 2007 के बाद ऐसा मंजर पहली बार देखा जा रहा है। हम 2008 की कुसहा की घटना का जिक्र नहीं कर रहे हैं, क्योंकि वह एक प्रशासनिक व तकनीकी लापरवाही का अप्रतिम उदाहरण है। अगर 2007 की बाढ़ से कुछ भी सबक लिया गया होता, तो शायद आज का दिन देखना न पड़ता। उस साल बाढ़ का असर राज्य के 22 जिलों के 264 प्रखंडों के 12,610 गांवों पर पड़ा था। तब दो करोड़, 48 लाख लोग इसकी चपेट में आए थे। 960 लोग व 1,006 मवेशी मारे गए थे। राज्य की नदियों के तटबंधों में 32 जगहों पर दरारें पड़ी थीं और 782 किलोमीटर लंबे राष्ट्रीय व राज्य मार्गों को बंद कर देना पड़ा था, **क्योंकि** वे 54 स्थानों पर टूट गए थे। 3,194 किलोमीटर **ग्रामीण** सड़कें भी इसलिए तहस-नहस हो गई थीं, क्योंकि सरकार के अनुसार वे 829 जगहों पर टूट गई थीं। इसके साथ ही सड़कों के 1,353 छोटे-बड़े पुल या तो बह गए थे या फिर टूट गए थे। रेल लाइनें कहां-कहां टूटीं, इसके बारे में जानकारी उपलब्ध नहीं है, मगर राज्य में रेल सेवाएं उस साल कई खंडों पर लंबे समय तक बाधित रही थीं। उस साल इन दरारों की वजह से पानी चारों तरफ फैल जरूर गया था, पर बाढ़ नवंबर तक बनी रही।

जहां-जहां तटबंधों, राजमार्गों, ग्रामीण सड़कों की धज्जियां उड़ गई हों, वहां सामान्य समझ यही कहती है कि बाढ़ का पानी उन-उन जगहों से निकलकर आगे बढ़ने के लिए रास्ता ढूंढ़ रहा था, लेकिन बाढ़ नवंबर तक इसलिए बनी रही, क्योंकि जल-निकासी के सारे रास्ते बंद थे। हालांकि तब सरकार ने तटबंधों को ऊंचा व मजबूत बनाने और सड़कों की दरारों को उसी मजबूती से बांधने का फैसला लिया, ताकि वे फिर न टूट न सकें। बिहार में 2007 से तटंबंधों को ऊंचा व मजबूत करने की मुहिम चल रही है, जिसकी शुरुआत बागमती व अधवारा समूह की नदियों से हुई। बिहार का तकनीकी अमला इस बात पर अपनी पीठ थपथपाता रहा है कि 2009 के बाद

से बिहार में कोई तटबंध नहीं टूटा है, लिहाजा राज्य सरकार द्वारा उठाए गए कदम बिल्कुल सही हैं। मगर वे यह नहीं बताते कि बिहार में पिछले कई वर्षों से बाढ़ आई ही नहीं थी।

सरकार द्वारा सभी रिपोर्टों में तटबंधों की वजह से पानी की निकासी में पड़ी बाधा का जिक्र होता है। सड़कों व रेल लाइनों के दुष्प्रभावों का जिक्र होता है। मगर काम वही होता है, जिससे समस्या और भी ज्यादा बढ़े। तटबंधों को ऊंचा व मजबूत करने से और उस पर पक्की सड़क बना देने से क्या नदी में पानी का आना रुक जाएगा? क्या नदी में गाद का आना और उसकी पेटी का ऊपर उठना रुकेगा? तट की तलहटी का ऊपर उठना क्या बंद हो जाएगा? तटबंधों के कारण बाढ़ से तथाकथित सुरक्षित क्षेत्र में जल-जमाव क्या कम हो पाएगा? और क्या कोई इंजीनियर या विभाग यह गारंटी देगा कि बाढ़ का पानी मजबूत व ऊंचे किए गए तटबंधों से ऊपर से नहीं बहेगा या वे कभी नहीं टूटेंगे? इसका जवाब है, शायद नहीं। क्योंकि वे यह जानते हैं और कहते भी हैं कि तटबंध बनेगा, तो टूटेगा। इस पूरी कवायद का तो बस एक ही फायदा है कि इससे परिवहन बेहतर होगा और वह भी तब तक, जब तक कि तटबंध सलामत रहे। मगर यह पूरा काम बाढ़ नियंत्रण के नाम पर होता है, क्योंकि बाढ़ बिकती है, परिवहन नहीं। राष्ट्रीय स्तर पर बाढ़ की समस्या का एक विस्तृत अध्ययन 1970 के दशक में हुआ था, जिसकी रिपोर्ट 1980 में आई थी। अब समय आ गया है कि यह अध्ययन फिर से हो, ताकि बदली परिस्थिति में समस्या का मूल्यांकन हो सके और समाधान की दिशा में नए सिरे से प्रयास किए जा सकें। जरूरत यह भी है कि जल-निकासी आयोग की स्थापना की जाए, ताकि इस समस्या का अध्ययन हो और इस पर गंभीरता से काम किया जा सके। जल-निकासी की बात इसलिए, क्योंकि बाढ़ के पानी के ठहरने की एक बड़ी वजह इसकी उचित व्यवस्था का न होना है।

बाढ़ को ऐतिहासिक तौर पर गांव की समस्या माना जाता था। गांव वाले हमेशा बाढ़ के आने की ख्वाहिश पाला करते थे। वे माना करते थे कि पानी आए और दो-चार दिनों में निकल जाए, ताकि उनकी जमीन को ताजी मिट्टी मिल जाए, खेतों की सिंचाई हो जाए और तमाम ताल-तलैया, कुएं, चापाकल आदि पानी से भर जाएं। उनकी जीवन-पद्धति में शामिल थी बाढ़। मगर अब ऐसा नहीं होता। अब ढाई दिनों की बाढ़ ढाई महीने की हो गई है। शहरों का जिक्र भी बाढ़ को लेकर किया जाने लगा है। बाढ़ ग्रामीण के साथ-साथ शहरी समस्या बन गई है। इस पर सभी को गंभीरता से सोचना चाहिए। बाढ़ को थामने के लिए अब तक जो भी निवेश किए गए हैं, उसका प्रतिकूल असर हो रहा है। 1952 में देश का बाढ़ वाला क्षेत्र 2.5 करोड़ हेक्टेयर हुआ करता था, वह अब बढ़कर पांच करोड़ हेक्टेयर हो गया है, जबकि इस बीच हमने अरबों रुपये खर्च किए हैं। बिहार की ही बात करें, तो 1952 में यहां 25 लाख हेक्टेयर क्षेत्र बाढ़ वाला हुआ करता था, जो अब सरकार के हिसाब से 68.8 लाख हेक्टेयर हो गया और इसमें यदि कुसहा की बाढ़ का 4.153 लाख हेक्टेयर क्षेत्र जोड़ दें, तो यह आंकड़ा लगभग 73 लाख हेक्टेयर होता है, यानी करीब तीन गुना। साफ है कि बाढ़ नियंत्रण के उपायों में कुछ न कुछ गड़बड़ी है। जरूरत इसी गड़बड़ी को दुरुस्त करने की है।